

सदियों से समाज में चली आ रही परम्पराओं और रूढ़िवादिता का स्त्रियों पर प्रभाव

Mrs. Bala Devi*

Student

-----X-----

प्रस्तावना

मानसिकता के कारण स्त्री चाहे जिस भी वर्ग जाति समूह की रही हो वह जन्म से ही अपने आपको असहाय और अबला समझकर सदैव पुरुषवादी मानसिकता का शिकार होती रही है। आज समाज में तमाम तरह के बंधनों से जकड़ी महिलाएं स्वयं की मुक्ति और अपनी अस्मिता के लिए देश के हर कोने से आवाज उठा रही हैं। स्वामी विवेकानंद ने भी कहा है कि जब तक महिलाएं स्वयं अपने विकास के लिए आगे नहीं आएंगी तब तक उनका विकास असंभव है। किसी ने ठीक ही कहा है कि किसी देश के सांस्कृतिक स्तर का पता लगाना है तो पहले यह देखो कि वहां की स्त्रियों की अवस्था कैसी है। मनु ने भी कहा है यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः। अर्थात् जहाँ स्त्रियों को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। वहाँ पर पुरुषों की गिनती स्वतः देवताओं की कोटि में की जाती है। इस परिवर्तनशील समाज में वैदिक काल के बाद स्त्रियों की स्थिति काफी उतार-चढ़ाव भरी रही है। आज भी स्त्रियाँ अपने अधिकार के लिए सामाजिक रूढ़ियों परम्पराओं और अपने अस्मिता के प्रश्न को लेकर जूझती नजर आ रही हैं। स्त्री की स्थिति भी युगों से ऐसी ही चली आ रही है। उसके चारों ओर संस्कारों का ऐसा क्रूर पहरा रहा है कि उसके अंतरतम जीवन की भावनाओं का परिचय पाना ही कठिन हो जाता है। वह किस सीमा तक मानवी है और उस स्थिति में उसके क्या अधिकार रह सकते हैं यह भी वह तब सोचती है जब उसका हृदय बहुत अधिक आहत हो चुकता है। ऐसा नहीं है कि हमारे भारतीय समाज में स्त्री स्वतंत्रता उसकी आजादी के लिए प्रयास नहीं किया गया। वैदिक काल के बाद अठारहवीं शताब्दी में स्त्रियों की हालत जितनी खराब थी उसमें 19वीं सदी में कुछ सुधार आया। धार्मिक आडम्बर रूढ़िगत विचार परंपरागत सामाजिक संस्कार सभी ने मिलकर अन्धकार का ऐसा परिवेश भारतीय जीवन के चारों तरफ निर्मित कर दिया था कि उसे तोड़ सकना सहज संभव नहीं था। ऐसी

स्थिति में स्त्री शोषण के विरुद्ध उसके अधिकारों के लिए समाज में तमाम तरह के सामाजिक व राजनैतिक आंदोलनों की शुरुआत हुई। जिसमें स्त्री प्रश्न एक-बहुत बड़ा मुद्दा रहा है। जिसके माध्यम से स्त्री से जुड़े हर तरह के शोषण के विरुद्ध राजा राममोहन राय ईश्वरचन्द्र विद्यासागर दयानन्द सरस्वती स्वामी विवेकानंद महात्मा ज्योति बा फूले व सावित्री बाई फूले आदि विभिन्न महान लोगों ने आवाज उठाई और महिलाओं को तमाम तरह की सामाजिक रूढ़ियों बन्धनों से मुक्त करा कर उन्हें उनका हक दिलाया। लेकिन आज भी उनकी समस्याएं हल नहीं हो सकी हैं आखिर क्यों क्योंकि- पुरुषों द्वारा नियंत्रित संचालित यह आन्दोलन आज के स्त्री आन्दोलन से मौलिक भिन्नता रखता है। सबसे बुनियादी फर्क यह है कि पुरुष सुधारक समाज के पितृसत्तात्मक ढांचे पर हमला नहीं करते थे बल्कि इसे सुरक्षित रखते हुए ही इसके अन्दर कुछ सुधार लाना चाहते थे। पितृसत्तात्मक ढांचे का मतलब सिर्फ परिवार में पुरुष का मुखिया होना नहीं है बल्कि समाज के सभी पक्षों में आर्थिक सामाजिक वैधानिक और धार्मिक व्यवस्था तथा मूल्यों-मर्यादाओं आदर्शों और चिंतन के रूपों तथा विचारधाराओं आदि में पुरुषों को खासकर प्रधानता देना है। पुरुष सुधारक इस ढांचे पर सवाल खड़ा किए बिना ही स्त्रियों की दशा में कुछ सुधार लाना चाहते थे। इसी वजह से अब तक स्त्रियों के अधिकारों और उनकी स्वतंत्रता के लिए समाज और साहित्य जगत में पुरुषों द्वारा उनकी निजी मानसिकता और स्वार्थ के आधार पर स्त्री-शिक्षा और उनके अधिकारों के लिए आवाज उठाई गई लेकिन उनकी छवि को अपने अनुसार गढ़ा जाता रहा है। “स्वतंत्रता के पश्चात पुरुषों के समक्ष बराबरी से आने का हौसला नारी में हुआ। नारी मुक्ति की चेतना नवीन संकल्पनाओं के साथ विकसित हुई पुरातनता के साये में

नवीनता को अपनाना ही नवीन चेतना के रूप में नारी मुक्ति चेतना बनी।

सामाजिक परंपरा और रूढ़ियों से मुक्ति का प्रश्न:

पुरुष सांस्कृतिक सत्ता ने स्त्री को वह सामाजिक सुविधा नहीं दी जोकि पुरुष को परम्परा से मिलती रही। स्त्री ने एक जीव के रूप में जन्म तो लिया मगर इसके बाद पुरुष की सभ्यता और सत्ता पर अपनी मान्यताएं ही नहीं सब कुछ समर्पित करती रही। लेकिन आधुनिकता ने स्त्री की सोयी हुई चेतना में जान भरने का काम किया है। आधुनिक स्त्रियाँ बरसों से रूढ़िवादी परंपरा की बेड़ियों में बंधी रहना नहीं चाहती हैं। वह पितृसत्ता का विरोध करती हुई नजर आ रही हैं। उनके पास अपनी स्वतन्त्र राय है। भारतीय स्त्री की मुक्ति का प्रश्न अन्य पश्चिमी देशों की स्त्रियों की मुक्ति से अलग है। भारतीय समाज और संस्कृति अन्य देशों की सभ्यता और संस्कृति से भिन्न है। भारतीय स्त्रियों के लिए स्त्री-मुक्ति का अर्थ अपनी परम्परा से पूर्ण मुक्ति का कभी नहीं रहा। भारतीय स्त्रियाँ समाज में व्याप्त रूढ़िवादी परम्पराओं से मुक्ति चाहती हैं। ऐसा नहीं है कि वह परिवार तोड़ने या पुरुषवर्ग का विरोध करती हैं वरन वह परिवार भी चाहती हैं और पुरुष का सहारा भी लेकिन साथ ही साथ वह स्वतन्त्र पहचान और अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भी कायम करना चाहती हैं। समकालीन अस्मितामूलक विमर्श के दौर में आज स्त्री-साहित्य में स्त्री-अस्मिता का प्रश्न मुख्य विषय बना हुआ है। स्त्री लेखन के द्वारा स्त्री से जुड़े सभी प्रश्नों को उठाया जा रहा है। वह चाहे हमारे समाज और संस्कृति में व्याप्त रूढ़िवादी मानसिकता हो या आधुनिकता की चकमक में स्त्री का बदलता स्वरूप।

उषा प्रियंवदा की शुरुआती दौर की कुछ कहानियों में स्त्री पात्र पढ़ी-लिखी और नौकरी-पेशा वाली होने के बावजूद अपनी रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति आवाज नहीं उठा पाती हैं। हम वर्तमान समय में यह तो कह सकते हैं कि महिलाओं के साक्षरता प्रतिशत में वृद्धि हो रही है परन्तु इस पर विचार करना भी आवश्यक है कि क्या वर्तमान शिक्षा महिलाओं को सदियों की रूढ़िवादी मान्यताओं से मुक्त कराकर उसे महिला से पहले इंसान होने का दर्जा दिला पा रही है या फिर उन बेड़ियों को ज्यादा से ज्यादा मजबूत करने का ही काम कर रही हैं उनकी पारम्परिक भूमिका में ही उनका अस्तित्व तलाश रही हैं। उषा प्रियंवदा ने जहाँ अपनी कहानियों में एक तरफ भारतीय पारम्परिक तथा रूढ़िवादी मान्यताओं के प्रति सहज स्त्री पात्र खड़ा किया है उन स्त्री-पात्रों के माध्यम से यह भी बताने की कोशिश करती हैं किस प्रकार अपनी परंपरा में दबी स्त्री की दशा इतनी असहाय होती है कि वह न चाहते हुए भी परंपरा के अनुसार जीवनयापन करने के

लिए मजबूर हो जाती है। कहानी की दूसरी स्त्री पात्र को देखे तो वह पारम्परिक मूल्यों का विरोध कर आधुनिक मूल्यों को वरीयता देती हुई नजर आती हैं। इस प्रकार हम देख सकते हैं कि एक ही समय और समाज में किस तरह स्त्री की अलग-अलग छवि को उजागर किया गया है। प्रश्न उत्तर कहानी की स्त्री पात्र बन्नो बुआ अपनी परंपरा को सहज भाव से बिना किसी विरोध के स्वीकार कर लेती हैं। वहीं दूसरी तरफ लता जैसी आधुनिक युवा पीढ़ी अपनी परम्पराओं में बंधकर रहना स्वीकार नहीं करती है बल्कि वह विरोध करती हुई नजर आती है। अकेली राह इस कहानी में गौरी और रहमान के प्रेम सम्बन्ध के बारे में पता चलने पर गौरी का भाई उससे पूछता है कि तुमने ऐसा क्यों किया गौरी। बहुत ही सहज भाव से गौरी जवाब देती है कि जो हो गया वह तो बदला नहीं जा सकता इसलिए मैं जा रही हूँ भाई साहब। उसका दृढ़ स्वर सुनकर श्याम स्तब्ध रह गया। आगे वह कहता है- तुम्हें जल्दी में कोई काम नहीं करना चाहिए गौरी। माँ आखिर माँ हैं। गुस्से में आकर कह दिया तो क्या हुआ लेकिन आधुनिक पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करने वाली गौरी को यह सहन नहीं है कि उसका कोई अपमान करे वह चाहे समाज या अपने लोग ही क्यों न हो। वह आगे कहती है जो माँ बेटी की खुलेआम इज्जत उतार ले उस माँ के लिए मेरे दिल में कोई जगह नहीं बची। आज की युवा पीढ़ी को हमारी पुरानी पीढ़ी के लोग स्वीकार नहीं कर पा रहे हैं उन्हें नयी पीढ़ी के द्वारा लिए गए निर्णय जल्दबाजी में लिया गया फैसला लगता है। वह अपनी रूढ़ियों से निकलना नहीं चाहते या यूँ कह सकते हैं कि चाहकर भी वो निकल नहीं पा रहे हैं। क्योंकि इन्सान से ज्यादा उन्हें समाज और अपनी झूठी इज्जत प्यारी है। चाहे इसके लिए उन्हें अपनी जान ही क्यों न गवानी पड़ जाय। लेकिन आधुनिक पीढ़ी किसी को भी कटाक्ष या कुछ कहने या सुनने का मौका देना नहीं चाहती है। माँ के द्वारा हुए अपमान का गौरी विरोध करती है और अपने हिसाब से जीवनयापन करने का निर्णय लेती है। गौरी सारी समस्याओं को झेलती हुई अपने स्व की पहचान के लिए एक संघर्षशील स्त्री के रूप में सामने आती है। वह परिस्थितियों से भयभीत नहीं होती है। एक प्रसंग आता है कि गौरी ने न तो आत्महत्या की न ही उसे क्षय ही हुआ। पहले की तरह काम में व्यस्त रहती।

रूढ़िवादी विचारों से मुक्ति जरूरी

पुरुषों ने स्त्रियों की जो उपेक्षा की है, उनका जो दुरुपयोग किया है, उसके लिए उन्हें पर्याप्त प्रायश्चित्त करना ही है। मगर सुधार का रचनात्मक कार्य तो उन्हीं बहनों को करना पड़ेगा, जो अंधविश्वास को छोड़ चुकी हैं और जिन्हें इस बुराई का ख्याल हो आया है। यह सही है कि हिंदुस्तान की स्त्रियों में किसी भी कुप्रथा के विरुद्ध युद्ध करने की शक्ति शेष नहीं रह गयी है। इसमें

शक नहीं कि समाज की ऐसी स्थिति के लिए मुख्यतः पुरुष जिम्मेवार हैं। लेकिन, क्या स्त्रियां सारा दोष पुरुषों के माथे मढ़ कर अपनी आत्मा को हल्का रख सकती हैं? (सरला माहेश्वरी)

भारत में समाज-सुधार के गौरवशाली इतिहास के बावजूद आज भी सच्चाई यही है कि हमारा समाज पुरातन स्त्री-विरोधी रूढ़िवादी विचारों से मुक्त नहीं हुआ है। इसी के चलते उस मानसिकता का जन्म होता है, जो निर्भया के बलात्कारी की मानसिकता है..

जर्मनी की विश्व प्रसिद्ध मार्क्सवादी सिद्धांतकार और महिलाओं के हितों की लड़ाई की एक अथक योद्धा रही हैं क्लारा जेटकिन. सन् 1911 में उन्होंने ही आठ मार्च के दिन पहले अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस का पालन किया था. 8 मार्च, 1908 को न्यूयॉर्क की पंद्रह हजार से भी ज्यादा महिलाओं ने काम की दयनीय परिस्थितियों तथा पुरुषों की तुलना में कम वेतन के खिलाफ और मताधिकार की मांग को लेकर एक हड़ताल का पालन किया था.

प्रथम विश्वयुद्ध की पूर्व संध्या पर 1910 में डेनमार्क की राजधानी कोपेनहेगन में समाजवादी महिलाओं के द्वितीय अंतरराष्ट्रीय सम्मेलन में युद्ध और सैन्यवाद, भूख और गरीबी के खिलाफ कई प्रस्ताव पारित किये गये थे. उसी सम्मेलन के मंच से क्लारा जेटकिन ने ट्रेड यूनियन आंदोलन की दूसरी महिलाओं के साथ मिल कर यह आह्वान किया था कि महिलाओं के खिलाफ जुल्मों के प्रतिरोध के लिए सारी दुनिया में उसी प्रकार अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस का पालन किया जाना चाहिए, जिस प्रकार 1 मई के दिन अंतरराष्ट्रीय श्रम दिवस का पालन किया जाता है. उस सम्मेलन ने जेटकिन के प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया था, लेकिन तब भी कोई दिन निश्चित नहीं किया गया था.

इसके बाद क्लारा जेटकिन ने ही अपनी पहल पर न्यूयॉर्क की महिलाओं के 8 मार्च के दिन के संघर्ष को याद करते हुए 8 मार्च, 1911 को जर्मनी में पहले अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस का पालन किया और तभी से दुनिया की सबसे अधिक प्रताड़ित आधी आबादी को न्याय और सम्मान दिलाने के लिए संघर्ष के दिन के तौर पर इसे विश्व भर में मनाया जाता है.

सन् 1908 के बाद से अब तक 107 साल पूरे हो चुके हैं. 1908 में न्यूयॉर्क की महिलाओं ने जिन मांगों के लिए हड़ताल का पालन किया था, उनमें समान वेतन की मांग के साथ ही एक प्रमुख मांग थी- काम की परिस्थितियों में सुधार की मांग. इन 107 वर्षों में गंगा में बहुत सारा पानी बह चुका है. पहले विश्वयुद्ध और दूसरे विश्वयुद्ध के बाद से अब तक दुनिया वह नहीं रही है, जो तब हुआ

करती थी. दुनिया में सामाजिक गैर-बराबरी के बारे में हाल में आये थामस पिकेटी के ऐतिहासिक अध्ययन से भी पता चलता है कि तमाम प्रतिकूलताओं के बीच भी अन्य गैर-बराबरियों की तरह ही लैंगिक गैर-बराबरी का ग्राफ भी हमेशा एक-सा नहीं रहा है.

दुनिया की राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार इसमें उतार-चढ़ाव दिखाई देता है. जिस दौर में भी दुनिया व्यापक राजनीतिक उथल-पुथल के बीच से गुजरी है, सामाजिक गैर-बराबरी में कमी आयी है और जब भी पूंजी का प्रभुत्व बिना किसी बाधा के बढ़ता चला गया है, सामाजिक गैर-बराबरी भी उसी अनुपात में बढ़ती चली गयी है. दोनों विश्वयुद्धों और समाजवादी शिविर के उदय और यहां तक कि शीत युद्ध के काल में भी गैर-बराबरी का ग्राफ अबाध रूप से बढ़ा नहीं, बल्कि उसमें कुछ कमी या ठहराव आया था. लेकिन, इन्हीं अध्ययनों से यह भी पता चलता है कि 1990 के बाद के एकध्रुवीय विश्व की इस चौथाई सदी में आधुनिकता की सारी लंबी-चौड़ी बातों के बावजूद, आज एक बार फिर सामाजिक गैर-बराबरी में तेजी से वृद्धि के खतरनाक संकेत मिलने लगे हैं. जाहिर है कि इसमें लैंगिक गैर-बराबरी के भी तेजी से बढ़ने का खतरा शामिल है.

आज जब हम अपने देश को देखते हैं, तो 107 साल पहले काम की परिस्थितियों की जिस समस्या को न्यूयॉर्क की महिलाओं ने उठाया था, वह हमारे देश की कामकाजी महिलाओं के लिए आज भी एक सबसे बड़ी समस्या बनी हुई है. काम का ऐसा कोई भी क्षेत्र नहीं है, जिसमें महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार आम बात न हो. यहां तक कि न्यायपालिका से लेकर पत्रकारिता की तरह के अपेक्षाकृत जागरूक और पवित्र माने जानेवाले क्षेत्रों में भी महिला कर्मचारियों के साथ बदसलूकी की खबरें अखबारों में अकसर आती रहती है. कॉरपोरेट क्षेत्र की तो यह एक सामान्य बीमारी है.

अभी निर्भया कांड और उसके फांसी की सजा पाये एक अपराधी के जिस साक्षात्कार को लेकर संसद और पूरे देश में हंगामा हो रहा है, उसमें भी एक बात खुल कर सामने आ रही है कि उस अपराधी ने जो जघन्य बातें कही हैं, वे कोई नयी बातें नहीं हैं. राजनीति से लेकर समाज के दूसरे सभी क्षेत्रों के प्रभावशाली लोग तक स्त्रियों के प्रति उन्हीं प्रकार की बातों को दोहराते हुए पाये जाते हैं. मसलन, स्त्रियों को एक समय के बाद घर से बाहर नहीं निकलना चाहिए, उन्हें अपनी पोशाक के

मामले में सावधानी बरतनी चाहिए, क्योंकि इन सबसे पुरुषों को बलात्कार करने की उत्तेजना मिलती है आदि, आदि.

और, इस प्रकार, प्रकारांतर से स्त्रियों को ही उनके बलात्कार के लिए दोषी बताने की दलीलें संसद के अंदर और बाहर, लगभग हर जगह और हमेशा सुनाई देती रही हैं. तमाम प्रकार के धार्मिक संगठनों के नेता तो इस मामले में सबसे अधिक आगे दिखाई देते हैं.

दुनिया के धर्मशास्त्रों में भी ऐसी अनेक बातें पायी जाती हैं, जो स्त्रियों की स्वतंत्र मानवीय अस्मिता के विपरीत नजर आती हैं. भारत की प्राचीन संहिताओं में तो ऐसे असंख्य उदाहरण भरे हुए हैं. इसीलिए सारी दुनिया में जनतंत्र के विकास के स्तर के एक मानदंड के रूप में स्त्रियों के विकास को भी माना जाता है.

तदनु रूप दुनिया में स्त्रियों की समानता के अधिकारों को लेकर आधुनिक कानूनी प्राविधानों का भी अपना एक पूरा इतिहास है. उस इतिहास के पूरे ब्योरे में जाने के बजाय, यहां हम सिर्फ यही कहना चाहेंगे कि भारत में भी, स्त्रियों की समानता की कानूनी व्यवस्थाओं का समान रूप से एक लंबा इतिहास रहा है, जिसमें भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय से लेकर ईश्वरचंद विद्यासागर और नवजागरण के दूसरे सभी पुरोधाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही है. यही वजह थी कि भारत स्त्रियों को समान मताधिकार देनेवाले दुनिया के देशों की अग्रिम कतार में शामिल नजर आता है. गांधीजी ने भारत के स्वतंत्रता आंदोलन को स्त्रियों के मानवाधिकार के आंदोलन से अभिन्न रूप में जोड़ दिया था.

भारत की स्वतंत्रता और समाज-सुधार के इस गौरवशाली इतिहास के बावजूद आज भी सच्चाई यही है कि हमारा समाज पुरातन स्त्री-विरोधी रूढ़िवादी विचारों से मुक्त नहीं हुआ है. इसी के चलते उस मानसिकता का जन्म होता है, जो निर्भया के बलात्कारी की मानसिकता है. अभी बीबीसी के लिए लेसली उडविन की फिल्म 'भारत की बेटा' (इंडियाट'ज डॉटर) के संदर्भ में भारत सरकार का जो हड़बड़ीपूर्ण रवैया देखने को मिला, वह भी हमारे समाज पर चरम रूढ़िवादी शक्तियों की जकड़ का ही उदाहरण है.

भारत का अनुभव यह है कि पंजाब, हरियाणा की तरह के जो प्रदेश प्रति व्यक्ति आय की दृष्टि से आगे हैं, उन्हीं प्रदेशों में स्त्री-पुरुष अनुपात का सबसे बुरा है. हाल में 'वर्ल्ड इकोनॉमिक फोरम' द्वारा जारी एक रिपोर्ट के अनुसार, 2014 की स्त्री-पुरुष अंतर सूचकांक में भारत का स्थान दुनिया के 142 देशों में 114वां है, जबकि बांग्लादेश का स्थान 65वां है. सिर्फ एक दशक पहले तक

2006 में भारत का स्थान 96वां था, जो 2010 में गिर कर 112 पर पहुंच गया. वही गिरावट आज तक जारी है.

इकोनॉमिक फोरम की इसी रिपोर्ट में कहा गया है कि 'आम लोग और उनकी योग्यताएं ही दीर्घकालीन टिकाऊ विकास के प्रमुख चालक होते हैं. यदि उनकी प्रतिभाओं का आधा हिस्सा अविकसित रह जाता है या उसे पूरा काम में नहीं लगाया जाता है, तो अर्थव्यवस्था कभी भी वांछित रूप में विकसित नहीं हो सकती है.'

इस बार आठ मार्च के अवसर पर संयुक्त राष्ट्र ने सारी दुनिया से यह आह्वान किया है कि इस दिन को इस रूप में पेश किया जाना चाहिए, जिससे सबको यह संदेश मिले कि महिला सशक्तीकरण का अर्थ है मानवता का सशक्तीकरण. इस वर्ष के अंतरराष्ट्रीय महिला दिवस पर संयुक्त राष्ट्र का यही मुख्य नारा भी है. गौर करने की बात यह है कि जिस समय इस बात का आह्वान किया जा रहा है कि महिला सशक्तीकरण को मानव सशक्तीकरण का पर्याय बताते हुए उसे सबके सामने प्रदर्शित किया जाये, उसी समय हमारे देश में एक ऐसी फिल्म पर सरकार ने पाबंदी लगा दी है, जिसमें एक महिला पर बलात्कार और उसकी हत्या के बाद उसके प्रतिवाद में गूंज उठी भारत की सड़कों का एक जीवंत चित्र पेश किया गया है.

संयुक्त राष्ट्र की महिला कार्यकारी निदेशक फ्लुमजिलो मिलाम्बो नूको ने दुनिया के सामने यह लक्ष्य रखा है कि साल 2030 तक स्त्री-पुरुष अनुपात को बराबरी के स्तर तक लाकर लैंगिक समानता के लक्ष्य को हासिल किया जाना चाहिए. यह काम तब तक संभव नहीं है, जब तक हम अपने समाज को स्त्री-विरोधी सभी रूढ़िवादी विचारों से मुक्त करके स्त्री-पुरुष समानता के आधार पर एक स्वस्थ समाज का निर्माण नहीं करते. आज का दिन इसी की शपथ लेने का दिन है.

भारत में महिला सशक्तीकरण

महिलाओं महिलाओं की स्थिति और उनके साथ किये जानेवाले व्यवहार में सुधार लाना विकास की प्रमुख चुनौती है. थोड़े समय के लिए परिवार नियोजन लक्ष्यों और प्रोत्साहनों के प्रावधान, महिला नसबंदी पर अनपेक्षित ध्यान केंद्रित करते हैं. माननीय प्रधानमंत्री जी ने 22 जनवरी, 2015 को हरियाणा के पानीपत से बेटाओ-बेटा पढ़ाओ अभियान की शुरुआत की थी. इस अभियान का उद्देश्य भारतीय समाज द्वारा लड़कियों को कमतर आंकने की सोच में सकारात्मक बदलाव लाना है.

भारतीय समाज में लड़कियों के साथ भेदभाव करने की परस्पर विरोधी सोच विद्यमान है। एक तरफ तो भारत में महिला राष्ट्रपति और महिला प्रधानमंत्री के रूप में जानीमानी महिलाएं हुई हैं तथा राष्ट्रीय और राज्य स्तरों पर बड़े राजनीतिक दलों की प्रमुख भी महिलाएं हैं। इसके अलावा कई महिलाएं कैबिनेट रैंक के मंत्रीपद तक पहुंची हैं तथा कई महिलाएं उद्योग प्रमुख, विशेषकर बैंकिंग क्षेत्र में, हुई हैं।

इसके बावजूद यूएनडीपी की अद्यतन मानव विकास रिपोर्ट-2014 के अनुसार, मानव विकास सूचकांक (एचडीआइ) में 187 देशों में भारत 135वें स्थान पर है और लिंग असमानता सूचकांक (जीआइआइ) में भारत का स्थान 152 देशों में 127वां है। जीआइआइ स्त्री और पुरुष के बीच उपलब्धियों में असमानता दर्शानेवाले समग्र उपायों को तीन प्रकार- प्रजनन स्वास्थ्य, अधिकारिता और श्रम बाजार के आधार पर देखता है। इसके अनुसार, भारत एचडीआइ पर सभी देशों से 25 प्रतिशत नीचे है और जीआइआइ में तो यह प्रतिशत और भी गिर कर 20 प्रतिशत ही रह जाता है।

इसके अलावा भारत में लड़कों की तुलना में लड़कियों की जन्मदर सापेक्षतया पूरी दुनिया में कम है और 2001 में जहां यह गिरावट एक हजार लड़कों की तुलना में 927 लड़कियां थीं, वहीं 2011 में एक हजार लड़कों की तुलना में लड़कियों की संख्या 918 ही रह गयी। चीन उन कुछ देशों में ऐसा देश है, जहां लड़कों की तुलना में लड़कियों की जन्मदर और भी कम है।

बिलासपुर, छत्तीसगढ़ में नवंबर 2014 में हुई त्रसदी, जिसमें 13 युवा महिलाओं की मौत हो गयी थी, जिनके बहुत ही छोटे-छोटे बच्चे थे और 45 महिलाएं गंभीर रूप से बीमार हो गयी थीं, एक ऐसी विशिष्ट और गंभीर समस्या- महिला नसबंदी- की ओर इशारा करती है, जिस पर तत्काल ध्यान दिये जाने की जरूरत है। राष्ट्रीय परिवार स्वास्थ्य सर्वेक्षण की तीसरे दौर की रिपोर्ट 'एनएफएचएस-3, 2005-06' में बताया गया है कि तमिलनाडु और महाराष्ट्र जैसे विकसित राज्यों में महिला नसबंदी 90 प्रतिशत है और सभी गर्भ निरोधकों की प्रतिशतता 76 है। तमिलनाडु और महाराष्ट्र दोनों राज्यों में महिला नसबंदी की औसत आयु 24.9 वर्ष सूचित की गयी है।

ऐसा लगता है कि बढ़ती जनसंख्या को नियंत्रित करने पर विशेषकर महिलाओं पर केंद्रित नये ढंग से ध्यान केंद्रित किया गया है और जिस साधन को अपनाया गया है, उसे अपनाने में अनुरोध और जबरदस्ती के बीच की रेखा धुंधली हो जाती है।

अनुरोध नसबंदी और नसबंदी के लिए न केवल गरीब दंपतियों को प्रोत्साहन के रूप में किया जाता है, बल्कि स्थानीय निकायों के कार्य निष्पादन के लिए उन्हें पुरस्कार के रूप में प्रोत्साहित भी किया जाता है।

इसे संवर्धनपरक और प्रेरणादायी नारे के रूप में वर्णित किया गया है। परिणामस्वरूप महिला नसबंदी के लिए बड़े-बड़े कैंप लगाये जाते हैं। भारत की जनसंख्या नीति परिवार नियोजन उपायों, विशेषकर महिलाओं संबंधी गर्भ निरोधकों, उन्हें प्रजनन का मामूली विकल्प अथवा स्वायत्तता के साथ विस्तार करने पर ध्यान केंद्रित किया गया प्रतीत होता है।

वर्ष 2012-13 के दौरान किये गये कुल नसबंदी आपरेशनों में दूरबीन नसबंदी की संख्या 97.4 प्रतिशत रही, जबकि पुरुष नसबंदी आपरेशनों, कम जटिल जोखिम के बावजूद, की संख्या केवल 2.5 प्रतिशत रही। महिला नसबंदी के प्रति सरकारी व्यय की स्थिति भी सही नहीं है। वर्ष 2013-14 के दौरान परिवार नियोजन के लिए निर्धारित 397 करोड़ रुपये की बजट राशि में से 85 प्रतिशत (338 करोड़) राशि महिला नसबंदी पर ही खर्च कर दी गयी। तुलना करें, तो पायेंगे कि कुल बजट का 1.5 प्रतिशत स्पेसिंग तरीकों पर खर्च किया गया और 13 प्रतिशत बुनियादी ढांचे और संचार पर खर्च किया गया।

अधिकांशतया जन्मदर नियंत्रण पर ध्यान देनेवाली जनसंख्या नियंत्रण नीति को बढ़ावा देने में आनेवाली नकारात्मक बातों से शिशुलिंग अनुपात में गिरावट आयी है। यदि प्रत्येक परिवार में कम बच्चे हों, तो मन में यह भावना अधिक बलवती रहती है कि परिवार में कम से कम एक लड़का तो होना ही चाहिए।

ऐसे में सरकार के सामने क्या करें और कैसे करें की स्थिति आ जाती है। उदाहरण के लिए लक्ष्य निर्धारित किये बिना (इएलए अथवा उपलब्धि के अपेक्षित स्तर), महिला नसबंदी और नसबंदी अभियान शिविरों संबंधी प्रोत्साहनों को वापस लेना।

इसके अलावा सरकार निम्नलिखित कार्य कर सकती है:-

- (1) भारत में परिवार नियोजन कार्यक्रम की समीक्षा करना, ताकि यह महिलाओं के प्रजनन स्वास्थ्य

अधिकारों और भारत की जनसंख्या संबंधी जरूरतों के बीच सामंजस्य बैठाया जा सके.

- (2) गुणवत्तापूर्ण सेवाओं, स्टैटिक परिवार नियोजन क्लिनिकों और गुणवत्तापूर्ण मानीटरिंग और पर्यवेक्षण के लिए बजट बढ़ाना.
- (3) युवाओं की जरूरतों को पूरा करना, यौन स्वास्थ्य के लिए अधिक परामर्शदाताओं को लेना, ऐसी सेवाएं प्रदान करना, जो युवाओं के लिए अधिक अनुकूल हो और स्पेसिंग मैथड की पर्याप्त आपूर्ति करना.

(वित्त मंत्री अरुण जेटली द्वारा 27 फरवरी, 2015 को संसद में पेश आर्थिक समीक्षा, 2014-15 से)

मातृसत्तात्मक व्यवस्था बेहतर?

क्या मातृसत्तात्मक व्यवस्था में विवाह-संस्था अधिक सुदृढ़ और समर्थ होती? यदि ऐसा होता, तब हमारा समाज भ्रूण हत्या, दहेज हत्या एवं बलात्कार जैसे अपराधों से कितना मुक्त होता?

हां. मानव-संस्कृति की शुरुआत मातृ-सत्तात्मक व्यवस्था से हुई थी, क्योंकि स्त्री के पास ही गर्भ-धारण करने का और एक नये जीव को इस पृथ्वी पर लाने का अधिकार है. किंतु जैसे-जैसे समय व्यतीत होता गया, पुरुष ने गौर किया कि स्त्री शारीरिक संरचना में कमतर और कोमल है. उसको मासिक-धर्म, जन्म देते समय कष्ट सहने पड़ते हैं और तब वह कमजोर हो जाती है. शिकार करते समय और दुश्मनों के साथ लड़ाई में भी उसका काम नहीं होता, तो उसका वर्चस्व क्यों?

पुरुष वर्चस्व का नशा इक्कीसवीं सदी तक ऐसा बढ़ गया है कि स्त्रियों का शिक्षित-सक्षम-आत्मनिर्भर होना, उनका बौद्धिक और आक्रामक होना, उनका दमन व अवमानना को नकारना पुरुष सत्ता को चुभने लगा है. ऐसी संस्थाएं येन-केन-प्रकारेण स्त्री को काबू करना चाहती हैं. और इसकी सबसे सटीक लाठी है स्त्री को अपमानित करना. बलात्कारी पुरुष प्रेमी, पति. सगा-संबंधी या अराजक तत्व भी हो सकता है, लेकिन निष्पात एक ही है- उसके निजत्व के सम्मान को चोट पहुंचाना. मातृ-सत्तात्मक समाज में ऐसे उदाहरण काफी कम मिलते हैं.

हमारे देश में ही केरल, पूर्वोत्तर के प्रदेश और कुछ कबीलाइ गुटों में यह व्यवस्था आज भी लागू है. चूंकि ऐसे समाज की स्त्रियां अपनी अस्मिता और आत्मनिर्भरता पर वर्चस्व करती हैं, इसलिए वे समाज की दूसरी स्त्रियों के प्रति अधिक संवेदनशील और उदार हैं. वे उनकी समस्याएं अधिक संवेदनशीलता से समझ सकती हैं और

मददगार व उदार होती हैं. पुरुष अहमन्यता को नकारती वह स्त्री-भ्रूण-हत्या को तरजीह नहीं देकर स्त्री को अवसाद से बचा लेती हैं और ऐसा समाज एक बेहतर मानव-संस्कृति का उदाहरण पेश करता है, जो सराहनीय है. तब शीला रोहेकर, यहूदी मूल की वरिष्ठ हिंदी रचनाकार.

नहीं. मातृसत्तात्मक व्यवस्था में भी पूंजी का नियंत्रण पुरुषों के ही हाथ में रहता है. बीना अग्रवाल की पुस्तक 'ए फील्ड ऑफ ओन' पढ़ लें. यह किताब दक्षिण एशिया के देशों में महिलाओं की आर्थिक स्थिति के बारे में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है. सामाजिक- आर्थिक-राजनीतिक सत्ता पर, वहां भी पुरुषों का ही कब्जा और कानून लागू है. संसद और विधानसभा में मर्दों का बहुमत है, सो वे ऐसा कोई कानून नहीं बनायेंगे, जो उनकी जड़ों में मट्ठा डालने का काम करे.

'महिला आरक्षण विधेयक'- अभी नहीं, कभी नहीं. सारे कानून मर्दों के हितों और वर्चस्व को बनाये-बचाये रखनेवाले ही बने-बनाये गये हैं. हालांकि, ढिंढोरा पीटा जाता है कि 'स्त्री सशक्तीकरण' के लिए, संसद और विधानसभा ने ना जाने कौन-कौन से बिल पारित किये हैं. वास्तविकता यह है कि दांपत्य में यौन संबंधों के बारे में सदियों पुराने कानून, सामंती सोच और सीलन भरे संस्कारों में, कोई बदलाव नहीं हो पा रहा. मालूम नहीं इस सवाल पर सबने क्यों 'मौनव्रत' धारण कर लिया है.

मातृसत्तात्मक व्यवस्था वाले राज्यों में भी अपराधियों का राजनीतिकरण बढ़ा है. राजनीति में वहां भी, स्त्रियां परिधि पर हैं और निर्णायक स्थलों पर उनकी भूमिका गौण ही है. मेरे विचार से स्त्री के दमन, उत्पीड़न और शोषण के खिलाफ कानून बनने-बनाने में बड़ी बाधा है- राजनीति व सत्ता में 'मर्दवादी' नेताओं की षड्यंत्रपूर्ण चुप्पी और अपने अधिकारों के प्रति स्त्री आंदोलन का दिशाहीन भटकाव. 67 साल से दमित, शोषित आत्माओं की चीत्कार, न संसद को सुनाई देती है और न ही कोर्ट तक पहुंच पाती है. इसे (आधी दुनिया) का दुर्भाग्य कहूं या अपने ही पिता-पति और पुत्र का षड्यंत्र?

उपसंहार

भारतीय समाज के विकास पर अब तक किये गये शोधों पर एक नज़र डालें तो प्राचीन भारतीय समाज में हिन्दू कर्मकाण्डों का प्रचार मुख्य रूप से इसलिये किया जाता था जिससे समाज में शारीरिक श्रम और मानसिक श्रम करने वाली आबादी के बीच भेद को सही ठहराया जा सके और दलितों और शूद्रों की आबादी को सवर्णों के अधीन श्रेणी में रखा जा सके, जो कि मुख्यतः खेती में लगी हुई थी या मजदूरी में। कर्मकाण्डों के

आवरण में लिपटा शासक वर्गों का यह रूढ़िवादी विश्व-दृष्टिकोण समाज में गहराई तक बैठा दिया गया। कर्मकाण्डों को मानने वाले आम लोगों को सिर्फ इतना पता है कि धर्म-ग्रन्थों में जो लिखा है वह ईश्वर ने लिखा है, और उसपर ज़्यादा सोचना या तर्क करना उनका काम नहीं है। ऐसा व्यक्ति सोचता है कि पण्डे-पुजारियों द्वारा बताये गये सभी धार्मिक कर्मकाण्डों को आँख मूँद कर मानना चाहिए। आज भी बिना किसी वैज्ञानिक समझ के कुछ उल्टे-सीधे कुतर्क देकर अर्धशिक्षित पण्डे-पुजारी लोगों को धर्म के नाम पर डराते-धमकाते हैं, और उन्हें यह समझाते हैं कि यदि वे कर्मकाण्ड नहीं करेंगे तो उनपर विपत्ति टूट पड़ेगी! देश की व्यापक मेहनतकश जनता वैसे ही जीने के लिए आवश्यक संसाधनों के अभाव तथा मुँह बाये खड़ी बेरोज़गारी-महँगाई के कारण विपत्ति में फँसी है, इसलिए लोग बिना सोचे समझे इन अन्धविश्वासों पर भी आँखें मूँद कर विश्वास कर लेते हैं। ये अन्धविश्वास व्यवस्था की उम्र बढ़ाने में एक बड़ी भूमिका निभाते हैं क्योंकि ये जनता को अपनी बदहाली के असली कारणों पर सोचने नहीं देते। इस तरह लोगों के सामने इस सच्चाई को धुँधला कर दिया जाता है कि उनकी बर्बादी का कारण कोई पाप या धर्म नहीं बल्कि वर्तमान पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था है। यह अकारण नहीं है कि पूँजीवादी कारपोरेट मीडिया आज अपने समाचार चैनलों से लेकर मनोरंजन चैनलों तक इन अन्धविश्वासों, ढकोसलों, आदि को बढ़ावा दे रहा है।

निष्कर्ष के रूप में कहें तो सम्पत्ति-आधारित समाज में सभी मानवीय मूल्य सम्पत्ति-सम्बन्धों के अधीन होते हैं। पूँजीवादी समाज में भी पारिवारिक सम्बन्ध महिलाओं को पुरुषों के बराबर अधिकार देने की बात नहीं करते क्योंकि यह सम्पत्ति सम्बन्धों के हितों के अनुरूप नहीं है, जो पितृसत्तात्मक पारिवारिक सम्बन्धों ने पुरुष वर्ग की झोली में डाला हुआ है। भारत जैसे पिछड़े समाज में पिछली कई सदियों से रूढ़िवादी परम्पराओं को शासक वर्ग द्वारा शोषित-उत्पीड़ित जनता के कन्धों पर रखकर ढोया जा रहा है, क्योंकि यहाँ जनवादी क्रान्ति के रास्ते नहीं बल्कि क्रमिक विकास के जरिये पूँजीवाद प्रमुख उत्पादन पद्धति बना।

कुछ हद तक कई प्रकार की रूढ़ियाँ पूरे देश के स्तर पर टूट रही हैं, लेकिन इनके टूटने की गति उतनी नहीं है जितनी तेज़ी से विज्ञान का विकास हो रहा है, और जितनी तेज़ी से वैज्ञानिक खोजें एक-एक कर हर अन्धविश्वास के पीछे छिपी सच्चाई को बेपर्दा कर उसकी कूपमण्डकता को तहस-नहस कर रही हैं।

सन्दर्भ सूची:

- Social Changes in Early Mediaeval India – Prof- R-S- Sharma
- Exasperating Essays – D-D- Kosambi
- Science Society and Peace – D-D- Kosambi
- भारतीय समाज में जाति और मुद्रा – इरफान हबीब
- प्राचीन भारत में भौतिक प्रगति और सामाजिक संरचनाएँ – रामशरण शर्मा
- सांप्रदायिक इतिहास और राम की अयोध्या – रामशरण शर्मा
- भारत में राज्य की उत्पत्ति – रामशरण शर्मा
- जाति प्रश्न के समाधान के लिए – रंगनायकम्मा
- जाति और वर्ग – रंगनायकम्मा
- दर्शन-दिग्दर्शन – राहुल सांकृत्यायन
- The Grand Design – Stephen Hawking
- जनसत्ता, 20 अगस्त 2013

Corresponding Author

Mrs. Bala Devi*

Student